-: प्रथम परिच्छेद :-

Chapter- 1

— : प्रथम परिच्छेद : — Chapter. 1

"रासो" शब्द की व्युत्पत्ति एवं पृष्ठभूमि :-

हिन्दी का आदि काल अपने वर्ण्य-विषय के आधार पर "वीर गाथा काल" के नाम से विख्यात है । साथ ही इस काल की अधिकांश रचनाएँ "रासो" नाम से अभिज्ञात हैं । "रासो" साहित्य का हिन्दी साहित्य में अपना विशेष महत्वपूर्ण स्थान है । गीतात्मकता और रागिनी में परिबद्ध यह साहित्य जहाँ एक ओर लोकगीत की शैली प्रस्तुत करता है, वहीं दूसरी ओर शास्त्रीय ओजस्विता का भाव भी प्रस्तुत करता है ।

"रासो" साहित्य के संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि-"वीरगाथा काल में अनेक चरित काव्य लिखे गए । इन चरित काव्यों के नाम करण रूपक, विलास, प्रकाश अथवा रासो आदि किए गए । वैसे वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं- प्रबंध काव्य के साहित्यिक रूप में और वीर गीतों ॥ Ballads ॥ के रूप में । साहित्यिक प्रबन्ध के रूप में जो सबसे प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध है वह है, "पृथ्वीराज रासो" । वीर गीत के रूप में हमें सबसे पुरानी पुस्तक "बीसलदेव रासो" मिलती है । यद्यपि उसमें नियमानुसार भाषा-परिवर्तन का आभास मिलता है ।"॥1॥

अब हमें देखना यह है कि "रासो" शब्द का निर्माण कैसे हुआ ? इन वीर काव्यों का नाम "रासो" क्यों पड़ा ? "रासो" शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों का विश्लेषण करना अनिवार्य होगा । वे इस प्रकार हैं :-

॥1॥ सर्व प्रथम मत फ्रांसीसी विद्वान "गार्सं द तासी" का है, जिसमें उन्होंने "रासो" शब्द की व्युत्पत्ति "राजसूय" से मानी है । "राजसूय" से आशय उस महान यज्ञ से लिया जाता है जिसमें बलि चढ़ाई जाती है । उनका मत है कि पृथ्वीराज के युद्धों, उनकी मैत्रियों, उनके अनेक शक्तिशाली सहायकों तथा उनके निवासों और वंशावलियों के कारण चन्द की रचना इतिहास, भूगोल, पौराणिक गाथाओं तथा प्रथाओं आदि की दृष्टि से अमूल्य ठहरती है । इसलिए उसका नाम "प्रिथुराज राजसू" अथवा "पृथ्वीराज का विशाल बलिदान" है ।"॥2॥

॥1॥ हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 17-18.
॥2॥ गार्सं द तासी - इस्तवार द ला लितरात्यूर ऐन्दुई ए ऐन्दुस्तानी - द्वि.सं. प्रथम भाग, पेरिस, पृ. 382-86 द्वारा - प्राचीन काव्य, हरीश प्रकाशन मन्दिर, आगरा.

इस कथन का उसने यह आधार माना है कि "पृथ्वीराज रासो" की कतिपय प्राचीन प्रतियों पर "राजसूय" अंकित देखा है । इसी आधार पर उसने यह संभावना व्यक्त की है कि "राजसूय" शब्द का तद्भव रूप ही "रासो" हो गया होगा ।

§2§ दूसरा मत "रासो" की व्युत्पत्ति "रहस्य" से मानने वालों का है । कविराज श्यामदास तथा डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल एवं काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित "हिन्दी शब्द सागर" में भी "रासो" की व्युत्पत्ति "रहस्य" शब्द से मानी गई है । उनके मतानुसार- "रासो" उसे कहा जाता है जिसमें किसी राजा का पद्यमय जीवन-चरित्र, विशेषकर उस जीवन-चरित्र का जिसमें उसके युद्धों एवं वीरता का अंकन हो ।

§3§ तीसरे मतानुसार कुछ विद्वान "रासो" शब्द की व्युत्पत्ति "रसायण" शब्द से मानते हैं । इस वर्ग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम प्रमुख है । उनका कथन है कि-"वीसलदेव रासो" में काव्य के अर्थ में "रसायण" शब्द का प्रयोग बार-बार आया है । अतः हमारी समझ में इसी "रसायण" शब्द से होते होते "रासो" हो गया ।" §1§ इसके लिए उन्होंने "वीसलदेव रासो" की निम्नलिखित पंक्तियों का उल्लेख किया है । यथा—

"नाल्हं रसायण आरम्भई ।"

§4§ चौथा मत "रासो" की व्युत्पत्ति "रास" शब्द से मानने वालों का है । काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित "रासो" के संपादकों ने "रासो" की व्युत्पत्ति "रास" शब्द से मानी है । संस्कृत में "रास" शब्द का अर्थ होता है शब्द, ध्वनि, क्रीडा, गर्जन, नृत्य आदि । इस मत के प्रतिपादक आचार्य डॉ० दशरथ शर्मा हैं । उन्होंने कहा है कि "रासो मूलतः गानयुक्त नृत्य विशेष से क्रमशः विकसित होते-होते उपरूपक और फिर उपरूपक से वीर रस के पद्यात्मक प्रबन्धों में परिणत हो गया । उक्त गान युक्त नृत्य विशेष से तात्पर्य "रास" से है ।"

"हिन्दी अनुशीलन" में उद्धृत निबंध "रासो की परम्परा" में "रासो" शब्द की व्युत्पत्ति "रास" शब्द से बतलाते हुए कहा गया है कि ""रासो" शब्द की व्युत्पत्ति "रास" धातु से मानी जाती है । "रास" का अर्थ है गर्जन । इसमें

---

§1§ हिन्दी साहित्य का इति० : शुक्ल, पृ. 28.

उत्साह और उल्लास की भावना प्रधान है। रास अपने प्रारम्भिक काल में एक नृत्य के रूप में ही था। लोग इसको एक नृत्य के रूप में मण्डली बनाकर नाचते थे और बीच-बीच में गर्जन भी करते जाते थे। यह नृत्य आज भी विद्यमान है। इसका संबंध पशुपालन नृत्य से माना जाता है। वही नृत्य धीरे-धीरे परिष्कृत होकर गीतकाव्य और अभिनय से पूर्ण हुआ। इस प्रकार रास ने गेय रूपक के तत्व प्राप्त किए और फिर उसमें जब चरित्र का समावेश हुआ, तब वह प्रबन्ध के रूप में विकसित हुआ। यही चरित्र प्रधान "रास" गेय रूपक के तत्वों से युक्त होकर "अपने कथानक को केवल काव्यमय प्रबन्ध के रूप में लेकर विकसित हुआ और "रासो" कहलाया।"{1}

{5} पाँचवें मत के अनुसार "रासो" शब्द की व्युत्पत्ति "रासक" शब्द से मानने वालों का है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र रासो का विकास रासक   रासउ   रासो के रूप में मानते हैं। इसी आधार पर चन्द्रावली पाण्डेय ने रासो की व्युत्पत्ति "रासक" से मानते हुए कहा है कि— जिस प्रकार "रासक" नामक उप रूपक का प्रारम्भ नर-नारी के संवाद से होता है, उसी प्रकार "पृथ्वीराज रासो" का प्रारम्भ भी चन्द और उसकी पत्नी के संवाद से होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी "रासो" की उत्पत्ति "रासक" से मानते हुए उसे गेय रूपक के रूप में स्वीकार किया है।

उपर्युक्त मतों के आधार पर हम कह सकते हैं कि "रासो" की व्युत्पत्ति के संबंध में आज तक जितनी परिभाषाएँ दी गई हैं वह किसी न किसी रहस्य को उद्घाटित करती हैं। अस्तु "रासो" एक रहस्यात्मक काव्य या प्रबन्ध काव्य है। उसकी इन तमाम व्युत्पत्तियों के इतिहास में "रासो" शब्द का इतिहास छिपा पड़ा है।

पृष्ठभूमि— साहित्य-सृजना उपस्थित परिस्थितियों की देन होती है।

"रासो-काव्य" के संदर्भ में दृष्टिपात करने से मनःस्थिति में प्राचीन काव्य का बिंब उपस्थित होता है। प्राचीन काव्य की श्रृंखला में आदिकाल का स्मरण होता है। आदिकाल को साहित्य के क्षेत्र में अनेक नामों से पुकारा गया है। जैसे— वीरगाथा काल, चारण या भाटकाल, रासो काल आदि। इस का समय सं. 1050 से 1375 तक माना जाता है।

{1} हिन्दी अनुशीलन – अक्टूबर से दिसम्बर, 1955 ई. एवं प्राचीन काव्य : हरीश प्रकाशन मन्दिर, आगरा {उ.प्र.} – पृ. 9–11.

"रासो" साहित्य के अतिरिक्त आदि काल में जिन साहित्यिक आयामों का दर्शन होता है, वे हैं— नाथ साहित्य, सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य एवं लौकिक साहित्य ।

नाथ साहित्य में सिद्धों की वाममार्गी योग साधना की प्रतिक्रिया में नाथ पंथियों की हठयोग साधना प्रारम्भ हुई । नाथ साहित्य के व्यवस्थापक गुरु गोरखनाथ जी माने जाते हैं । इन्होंने ईसा की तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपना साहित्य लिखा था । गोरखनाथ से पहले अनेक संप्रदाय थे, उन सब का नाथ संप्रदाय में विलय हो गया । गोरखनाथ ने अपनी रचनाओं में गुरु महिमा, इन्द्रिय-निग्रह, प्राण साधना, वैराग्य, कुंडलिनी जागरण, शून्य समाधि पर विशेष बल दिया है । इसकी साधना योग पर आधारित थी । गोरखनाथ ने लिखा है कि— धीर वह है जिसका चित्त विकार-साधना होने पर भी विकृत नहीं होता । उन्होंने इस संदर्भ में कहा है कि—

नौलख पातुर आगे नाचैं, पीछे सहज अखाडा ।
ऐसे मन लै जोगी खेलैं, तब अन्तरि बसै भँडारा ।।§1§

बौद्ध धर्म में वज्रयान तत्व का प्रचार-प्रसार करने के लिए सिद्धों ने जो साहित्य लोकभाषा में लिखा, उसे हिन्दी साहित्य-जगत में सिद्ध साहित्य की संज्ञा प्रदान की गई । इन सिद्धों में सरहपा, शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कण्हपा एवं कुक्कुरिपा आदि प्रमुख हैं । सरहपा को हिन्दी का प्रथम कवि माना जाता है । इनकी कविता का उदाहरण द्रष्टव्य है । यथा—

नाद न बिन्दु न रवि न शशि मण्डल
चिअराअ सहावे मूकल ।
अजुरे उजु छाडि मा लेहु रे बंक,
निअहि बोहिआ जाहुरे लाँक ।
हाथ रे काँकाण मा लोउ दापण,
अपणे अपा बुझतु निअ-मण ।§2§

---

§1§ हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं शुक्ल जी, पृ. 18-19.

§2§ काव्यांजलि, पृ.सं. 15-16.

सरहपा की इस कविता से स्पष्ट होता है कि उस समय अपभ्रंश से हिन्दी का विकास होना प्रारम्भ हो गया था ।

जैन साहित्य के अन्तर्गत जैन साधुओं की सांप्रदायिक प्रचार-प्रसार की अभिव्यक्ति आती है । जिस प्रकार हिन्दी के पूर्वी क्षेत्र में, हिन्दी कविता के माध्यम से सिद्धों ने बौद्ध धर्म के बज्रयान-मत का प्रचार किया, उसी प्रकार पश्चिमी क्षेत्र में जैन मतावलम्बियों ने भी अपने मत का प्रचार हिन्दी कविता के माध्यम से किया । जैन साहित्य का सबसे लोकप्रिय रूप "रास" ग्रंथ है । संस्कृत के "रस" शब्द को जैन साधुओं ने "रास" रूप देकर रचना की प्रभावशाली शैली बनाया । देवसेन रचित "श्रावकाचार", मुनिजिन विजय कृत "भरतेश्वर बाहुबली रास", जिन धर्म सूरि कृत "स्थूलभद्र रास", विजय सेन सूरि का "रेवंत गिरि रास" आदि जैन साहित्य की अमूल निधि हैं ।

उपर्युक्त धाराओं के अतिरिक्त आदिकाल में कुछ ऐसे ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, जो इन प्रवृत्तियों से भिन्न हैं । ऐसे सभी उपलब्ध काव्यों को लौकिक साहित्य की सीमा में गिना जाता है । ऐसी काव्य-रचनाओं में कुशलराय वाचक कृत "ढोला मारू रा दूहा" और खुसरो की पहेलियां प्रसिद्ध हैं । कुछ मुक्तक ग्रंथ भी मिलते हैं, जो हेमचंद के "प्रबंध चिन्तामणि" में संकलित हैं ।

परिस्थितियाँ :-

<u>राजनैतिक परिस्थितियाँ</u> :- भारत के इतिहास में यह वह समय था, जबकि मुसलमानों के आक्रमण उत्तर-पश्चिम की ओर से लगातार हो रहे थे । इसका प्रभाव अधिकतर भारत के पश्चिमी प्रांत के निवासियों पर भी पड़ा । गुप्त साम्राज्य के ध्वस्त होने पर हर्षवर्धन {मृत्यु संवत 704} के उपरान्त भारत का पश्चिमी भाग ही भारतीय सभ्यता और बल-वैभव का केन्द्र हो रहा था । कनौज, दिल्ली, अजमेर, अन्हलवाड़ा आदि बड़ी-बड़ी राजधानियाँ इस ओर ही प्रतिष्ठित थी । इन क्षेत्रों की ही भाषा शिष्ट मानी जाती थी तथा कवि, चारण इसी भाषा में कविताएँ करते थे । प्रारंभिक काल का जो साहित्य आज उपलब्ध है, उसका अविर्भाव इसी भूभाग में हुआ । हर्षवर्धन के बाद साम्राज्य-भावना का लोप हो चुका था और संपूर्ण देश अनेक स्वतंत्र राज्यों में

विभक्त हो गया था । गहरवार, चौहान, चन्देल और परिहार आदि राजपूत राज्य पश्चिम की ओर प्रतिष्ठित थे । वे अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए परस्पर लड़ते झगड़ते रहते थे । यह लड़ाई किसी आवश्यकता वश नहीं होती थी । यह तो मात्र शौर्य-प्रदर्शन का रूप ले चुकी थी । बीच-बीच में मुसलमानों के हमले भी होते रहते थे । सारांश यह है कि जिस समय हमारे हिन्दी साहित्य का अभ्युदय होता है उस समय देश में लड़ाई-झगड़ों और युद्ध का वातावरण था । वीरता और गौरव-प्रदर्शन का समय था और अतिरिक्त बातें पीछे रह गई थी ।

महमूद गजनवी की मृत्यु [संवत 1087] के बाद गजनवी सुलतानों का एक हाकिम लाहौर में रहा करता था और वहां से लूटमार के लिए भिन्न-भिन्न भागों पर, विशेषतः राजपूताने पर चढ़ाइयाँ हुआ करती थी । इन चढ़ाइयों का वर्णन फारसी तवारीखों में नहीं मिलता, पर कहीं-कहीं संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों में मिलता है । साँभर [अजमेर] का चौहान राजा दुर्लभराज द्वितीय मुसलमानों के साथ युद्ध में मारा गया था । अजमेर बसाने वाले अजयदेव ने मुसलमानों को परास्त किया था । अजयदेव के पुत्र अर्णोराज के समय में मुसलमानों की सेना फिर पुष्कर की घाटी पार करके उस स्थान पर जा पहुँची, जहाँ अब आनासागर है । अर्णोराज ने उस सेना का संहार कर बड़ी भारी विजय प्राप्त की । वहाँ म्लेच्छ मुसलमानों का रक्त गिरा था, इससे उस स्थान को अपवित्र मानकर, वहाँ अर्णोराज ने एक बड़ा तालाब बनवा दिया था, जो आनासागर कहलाता है ।

धार्मिक परिस्थितियाँ :- ईसा के छठी शताब्दी तक देश का धार्मिक वातावरण शांत था । इस समय आलम्वार और नायन्मार संत दक्षिण भारत से उत्तर भारत की ओर धार्मिक आंदोलन लाए । बौद्ध धर्म का पतन प्रारम्भ हो गया था । शैव और जैन मत परस्पर आगे बढ़ने की प्रतिस्पर्धा के कारण आपस में टकराने लगे थे । ऐसी धार्मिक अशान्ति के इस काल में इस्लाम का प्रवेश हो रहा था । अशिक्षित जनता के सामने धार्मिक राहें बनती जा रही थी । बौद्ध सन्यासी एवं योगी अनेक जादू-टोने तथा यौगिक चमत्कार दिखा रहे थे । वैदिक और पौराणिक मतों के समर्थक खण्डन-मण्डन के वातावरण में विचरण कर रहे थे । उधर जैन धर्म पौराणिक आख्यानों

- -

द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल एवं डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी.

को नए ढंग से गढ़कर जनता की आस्थाओं पर नया प्रभाव जमा रहा था । आदि कालीन धार्मिक परिस्थितियाँ अत्यन्त विषम तथा असन्तुलित थी । कवियों ने इसी स्थिति के अनुरूप खण्डन-मण्डन, हठयोग, वीरता और श्रृंगार का साहित्य लिखा ।

<u>सामाजिक परिस्थितियाँ</u> :- तत्कालीन राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का देश की सामाजिक परिस्थितियों पर भी गहरा प्रभाव पड़ रहा था । जनता शासक तथा धर्म दोनों ओर से निराशा के वातावरण में निमग्न थी । युद्धों के समय उसे बुरी तरह पीसा जाता था । समाज के उच्च वर्ग में विलासिता बढ़ गई थी । निर्धन वर्ग एवं श्रमिक वर्ग का शोषण किया जा रहा था । समाज अंधविश्वासी हो गया था । सांप्रदायिक तनाव बढ़ रहा था एवं योगियों का गृहस्थों पर आतंक छाया हुआ था । जनता भूख, युद्ध और महामारी के वातावरण से पूर्णतः क्षुब्ध हो चुकी थी । सामाजिक परिस्थितियों की इस विषमता में हिन्दी के कवियों को जनता की स्थिति के अनुसार काव्य-रचना की सामग्री जुटानी पड़ी ।

<u>सांस्कृतिक परिस्थितियाँ</u> :- आदिकाल भारतीय एवं इस्लाम दोनों संस्कृतियों के संक्रमण एवं ह्रास-विकास की गाथा है । इस काल में भारतीय संस्कृति का जो रूप दृष्टिगोचर होता है वह परंपरागत गौरव से विछिन्न तथा मुस्लिम संस्कृति के गहरे प्रभाव से निर्मित है । उत्सव, मेले, वेशभूषा, आहार-विहार, विवाह, मनोरंजन आदि सब में मुस्लिम रंग मिल गया था । संगीत, चित्र, वास्तु एवं मूर्ति कलाओं की मूल भारतीय परंपरा धीरे-धीरे क्षय होती जा रही थी ।

इस दशा में काव्य या साहित्य के भिन्न-भिन्न आयामों की पूर्ति और समृद्धि का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था । उस समय तो केवल वीर-गाथाओं की ही उन्नति हो रही थी । इस वीरगाथा को हम दोनों रूपों में पाते हैं-- मुक्तक काव्य के रूप में भी और प्रबन्ध काव्य के रूप में भी । जिस प्रकार यूरोप में वीरगाथाओं का प्रसंग युद्ध और प्रेम रहा, उसी प्रकार इस काल में भी । किसी राज-कन्या के रूप का संवाद सुनकर दलबल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिपक्षियों को पराजित कर उस कन्या का हरण कर लेना वीरों के गौरव व अभिमान का प्रतीक माना जाता था । इस प्रकार इस काल के साहित्य में श्रृंगार रस का चित्रण भी दृष्टिगोचर होता है, परन्तु वीररस

वही : पृ. 22-23.

ही प्रधान है ।

जहाँ राजनीतिक कारणों से युद्ध होता था, वहाँ भी उन कारणों का उल्लेख न करके कोई रूपवती स्त्री ही कारण कल्पित करके प्रस्तुत की जाती थी । जैसे शहाबुद्दीन के यहाँ से एक रूपवती स्त्री का पृथ्वीराज के दरबार में आना ही युद्ध का कारण था । हम्मीर पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का भी ऐसा ही कल्पित कारण माना जाता है ।

इस प्रकार इन काव्यों में कल्पित घटनाओं का प्राधान्य था । कल्पना शक्ति के ऐसे प्रसंग अत्यधिक रोचक एवं आकर्षक बन पड़े हैं । युद्ध वर्णनों के सजीव चित्रण भी अत्याकर्षक हैं ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में रासो परंपरा :-

कविवर चन्द अपभ्रंश एवं हिन्दी के मध्य की कड़ी के रूप में जाना जाता है । रासो परंपरा बहुत समृद्ध रही है । डिंगल एवं पिंगल भाषा में ये रासो विरचित हुए है । यह ग्रंथ चरित्र प्रधान होते थे, परन्तु इनमें कथानक और शैली की भिन्नता दृष्टिगोचर होती है । "पृथ्वीराज रासो" हिन्दी साहित्य का आदि ग्रंथ माना जाता है ।

अब हमें यह देखना है कि रासो परम्परा का विकास कब हुआ है ? हिन्दी की पूर्ववर्ती भाषा अपभ्रंश में रासो काव्यों का सम्यक् विकास हुआ है । अपभ्रंश के कवि अद्दमाण [अब्दुल रहमान] कृत "संदेश रासक" नामक ग्रंथ उपलब्ध होता है । अपभ्रंश से पूर्व संस्कृत एवं प्राकृत में रासो का कोई सूत्र नहीं मिलता है । अपभ्रंश से यह रासो परंपरा गुजराती में आई तत्पश्चात् गुजराती से राजस्थानी में और राजस्थानी से हिन्दी में । भाषा की दृष्टि से इस युग में डिंगल एवं पिंगल भाषा का प्रयोग हुआ है ।

रासो काव्य-परंपरा--

1. गुजरात - डॉ. विपिन बिहारी त्रिवेदी ने अपनी कृति "रेवा तट" नामक ग्रंथ में "संदेश रासक" से भी पूर्व "मुंजरास" का उल्लेख किया है । यद्यपि यह ग्रंथ पूर्ण रूप से अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है, पर इसके फुटकर छन्द हेमचन्द कृत "सिद्ध हेम शब्दानुशासनम" तथा मेरुतुंग कृत "प्रबंध चिन्तामणि" में मिलते हैं । "मुंजरास" में मालवा

के राजा मुंज तथा कर्नाटक के राजा तैलप की बहिन मृणालवती की प्रेम कहानी का उल्लेख है ।

2. संदेश रासक - रासो परंपरा में प्रमाणित कृति के रूप में सर्वप्रथम नाम "संदेश-रासक" का आता है । इसके रचयिता अब्दुल रहमान माने जाते हैं । पं. राहुल सांकृत्यायन ने इसका रचनाकाल 11वीं शताब्दी बतलाया है, तो मुनि जिनविजय ने इसका रचनाकाल 12-13वीं शताब्दी निर्धारित किया है । इसका प्रतिपाद्य विषय प्रोषितपतिका नायिका का विरहवर्णन है । इसकी कथा-वस्तु इस प्रकार है— कोई पथिक मुलतान जाता हुआ इस प्रोषितपतिका नायिका से मिलता है, जिसका पति किसी कार्य हेतु मुलतान गया हुआ है । उसी के द्वारा वह अपने प्रवासी पति को संदेशा भेजती है । इस विप्रलंभ प्रधान काव्य में करुणा, वेदना एवं टीस के साथ ही साथ उत्कृष्ट प्रेम का भी अंकन हुआ है । प्रसंगवश ऋतुवर्णन भी बड़ा मनोरम एवं स्वाभाविक बन पड़ा है ।

3. भरतेश्वर बाहुबली रास - इस ग्रंथ के रचयिता शालिभद्र सूरि माने जाते हैं । इसका रचनाकाल संवत् 1242 माना जाता है । इस ग्रंथ में ऋषभदेव के दोनों पुत्रों भरतेश्वर और बाहुबली के मध्य होने वाले युद्ध का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है । शालिभद्र सूरि ने इस ग्रंथ में युद्धकला का बड़ा ही सजीव अंकन किया है ।

इस कालक्रम में रासो ग्रंथों का वर्गीकरण हम इस प्रकार कर सकते हैं—
{1} 12 से 15वीं शताब्दी के मध्य रचे गए रासो ग्रंथ
{2} 17वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के मध्य रचे गए रासो ग्रंथ ।

12वीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी के मध्य रचे गए रासो ग्रंथों में निम्न-लिखित ग्रंथ आते हैं :-

1. बीसलदेव रास
2. जम्बू स्वामी रास
3. रेवन्तगिरि रास
4. कछली रास
5. गौतम रास
6. दशार्णभद्र रास

7. वस्तुपाल तेजपाल रास
8. श्रेणिक रास
9. पेथड़ रास
10. समरसिंह रास

इसी काल में कतिपय जैन आचार्यों के भी जैन धर्माचार सम्बन्धी रासो ग्रंथ मिलते हैं जो इस प्रकार हैं :-

1. कवि "आसगु कृत" - "जीव दया रास" तथा "चन्दन वाल रास" ।
2. कवि "देलहण कृत" - "गयसुकुमाल रास" ।
3. कवि जीधन्धर कृत - "मुक्तिबलि रास"
4. जिनदत्त सूरि कृत - "उपदेश रसायन रास"

§2§ 16वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के मध्य तक रचे गए रासो काव्य :-

1. अश्वमदास कृत - कुमारपाल रास
2. माधोदास कृत - राम रासो
3. सुमित हंस कृत - विनोद रास
4. डूँगरसी कृत - छत्रसाल रासो
5. गिरधर चारण कृत - सगतसिंह रासो
6. दलपति विजय कृत - खुम्माण रासो
7. श्रीपाल रास

उपर्युक्त रासो ग्रंथों के अतिरिक्त इसी काल में कतिपय हास्य मिश्रित रासो ग्रंथों का सृजन हुआ है जो इस प्रकार है :-

1. माकड़ रासो
2. ऊंदर रासो
3. खीचड़ रासो
4. गोधा रासो

यहाँ यह विचारणीय है कि उपरि वर्णित सभी रासो ग्रंथ "डिंगल भाषा" में लिखे गए हैं । अब हम पिंगल अथवा राजस्थानी एवं ब्रजभाषा में विरचित कतिपय रासो ग्रंथों

- -

दृष्टव्य : हिन्दी दर्शन §प्राचीन काव्य§ हरीश प्रकाशन मंदिर, आगरा, पृ. 21-23.

-: 11 :-

का परिचय देना चाहेंगे :-

1. शार्ंगधर कृत - हम्मीर रासो
2. नल्लसिंह भट्ट कृत - विजयपाल रासो
3. गुलाब कवि कृत - करहिया को रायसो
4. नान कवि कृत - कायम रासो
5. कुंभकर्ण चारण कृत - रतन रासो
6. सिथायच दयाल दास कृत - राणो रासो
7. जोधराज कृत - हम्मीर रासो
8. जल्ह कवि कृत - बुद्धि रासो
9. अज्ञात कवि कृत - राउ जैत सी री रासो

विभिन्न रासो ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय :-

अब हम कतिपय प्रमुख रासो ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना चाहते हैं। अस्तु—

[क] खुमाण रासो :- प्रायः सभी रासो ग्रंथों में प्रधान नायक के जीवन चरित्र एवं उसके जीवन की घटनाओं के अतिरिक्त परवर्ती राजाओं का वर्णन भी देखने को मिलता है। इसी तथ्य के आधार पर इन ग्रंथों का रचनाकाल निश्चित करना संदिग्ध हो जाता है। "खुमाण रासो" की प्रवृत्ति भी यही रही है इसमें चित्तौड़ नरेश खुमाण के जीवन चरित्र एवं उनके जीवन की घटनाओं का वर्णन तो है ही इसके साथ ही उसमें परवर्ती महाराज प्रतापसिंह तक का वर्णन हमें संदेह में डाल देता है। राजा खुमाण का समय 9वीं शताब्दी होने के कारण इसका मूल रूप भी 9वीं शताब्दी के आसपास रचा गया होगा। परन्तु कतिपय अन्य राजस्थानी वृत्ति संग्राहकों ने इसे 17वीं शताब्दी की रचना बतलाने का प्रयास किया है। स्वयं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी यही कहा है—"यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय जो खुमाण रासो मिलता है, उसमें कितना अंश पुराना है। उसमें महाराज प्रतापसिंह तक का वर्णन मिलने से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस रूप में यह ग्रंथ अब मिलता है, वह उसे वि.सं. की 17वीं शताब्दी से प्राप्त हुआ होगा। यह नहीं कहा जा सकता कि दलपति विजय असली खुमाण रासो का रचयिता था अथवा उसके परिशिष्ट का।" [1]

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.सं. 29.

इस प्रकार इस ग्रंथ के रचनाकाल एवं रचयिता तक के विषय में भ्रम उत्पन्न हो गया है । डॉ० रामगोपाल शर्मा "दिनेश" ने इस दिशा में कुछ ठोस प्रमाण देने का प्रयास किया है । उनका कथन है कि—"वास्तविकता यह है कि इस काव्य का मूल रूप 9वीं शताब्दी में ही लिखा गया था । तत्कालीन राजाओं के सजीव वर्णन, उस समय की परिस्थितियों का यथार्थ साम्य तथा भाषा के प्रारम्भिक हिन्दी रूप के प्रयोग से इसी तथ्य के प्रमाण मिलते हैं । ....वृत संग्राहकों के पास इतिहास को समझने की पैनी दृष्टि नहीं थी, इसलिए राजस्थान में रहते हुए भी वे आदिकाल की संपत्ति भक्तिकाल और इतिहास के भण्डार में डालने का दुराग्रह करके यश अर्जित करते रहे, जबकि यह सम्पत्ति उन कालों की प्रवृत्तियों से किसी प्रकार भी मेल नहीं खाती । इन लोगों ने रचनाकारों के नामों के संबंध में भी भ्रम उत्पन्न कर दिया है । अधिकांश विद्वानों ने नवीं शती के "खुमाण नरेश" के समकालीन "दलपति विजय" को "खुमाण रासो" का रचयिता माना है, जबकि वृत संग्रहकर्ताओं ने यह सिद्ध करने की असफल चेष्टा की है कि उसका रचयिता सत्रहवीं शती ईस्वी का दलपति विजय नामक कोई जैन साधु था । रचना शैली तथा विषय-वस्तु से सिद्ध है कि यह काव्य किसी जैन साधु की रचना नहीं हो सकता । यदि जैन साधु ने इसे लिखा होता तो निश्चय ही इसमें धर्म भावना किसी न किसी रूप में व्याप्त मिलती ।"﴾1﴿

अतः डॉ० रामगोपाल शर्मा "दिनेश" के मतानुसार इसका रचनाकाल नवीं शताब्दी ही माना जाता है । हाँ कालान्तर में प्रक्षिप्त अंश अवश्य ही उसमें जोड़ दिए गए होंगे । साथ ही रचयिता भी खुमाण का दरबारी कवि दलपति विजय ही है, न कि 17वीं शती का कोई जैन साधु ।

"खुमाण रासो" निस्सन्देह हिन्दी साहित्य के आदिकाल की नवीं शताब्दी की रचना है । इसके रचयिता दलपति विजय हैं । इसमें लगभग पाँच सहस्त्र छन्द मिलते हैं । अन्य रासो ग्रंथों के समान इसमें भी परवर्ती कवियों ने अपने समकालीन राजाओं के जीवन वृत संबंधी कतिपय प्रक्षिप्तांश जोड़ दिए है । इन्हीं प्रक्षिप्त अंशों के कारण इसका रचनाकाल संदिग्ध प्रतीत होता है । परन्तु सम्यक

﴾1﴿ हिन्दी साहित्य का इतिहास ﴾सं. डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1973﴿ पृ. 53.

अध्ययन करने पर हम इसका साहित्यिक मूल्यांकन कर सकते हैं । कवि ने अपने आश्रय-दाता खुमाण नरेश की शूरता एवं वीरतापूर्ण युद्धों का सजीव वर्णन सरस एवं रोचक शैली में प्रस्तुत किया है । रासो ग्रंथों की परंपरानुसार इसमें भी वीररस के साथ श्रृंगाररस का भी समावेश नायिका भेद वर्णन में हो गया है । इसकी भाषा राजस्थानी हिन्दी कही जा सकती है । छन्दों की दृष्टि से कवि ने दोहा, सवैया एवं कवित्त छंदों का प्रयोग किया है । ग्रंथ में स्थान-स्थान पर वस्तुओं का वर्णनात्मक शैली में चित्रण किया गया है । यथा—

पिउ चित्तौड़ न आविऊ सावण पहिली तीज ।
जोवै वाट विरहिणी, खिण-खिण अणवै खीज ।
संदेशो थिण साहिबा, पाछो फिरिय न देह ।
पंछी घाल्या पिंज्जरे, छूटण रो संदेह ।

इस छन्द में कवि ने वियोगिनी नायिका का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है । प्रक्षिप्तांशों की बहुलता के कारण अभी इसका मूल पाठ निकालने की आवश्यकता है ।

§ख§ <u>वीसलदेव रासो</u> :- यह भी रासो परंपरा का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसकी पुष्टि ग्रंथ के ही छन्दों से होती है । यथा—

§1§ "कर जोड़ी नरपति भणई ।"
— वीसलदेव रासो छं. सं. 1 ।

§2§ "नाल्ह रसायण रसभरि गई ।"
— वीसलदेव रासो छन्द सं. -5 ।

कवि की जाति के विषय में विद्वानों में मतभेद है । आचार्य शुक्ल ने इसे भाट जाति का बतलाया है ।§1§ तो अगरचन्द नाहटा ने उसे ब्राह्मण बतलाया है ।§2§ डॉ0 उदय नारायण तिवारी ने भी उसे ब्राह्मण जाति का बतलाते हुए कहा है कि— "नरपति कवि का मुख्य नाम तथा"नाल्ह" कौटुम्बिक नाम प्रतीत होता है । अन्य तथ्यों के अभाव के कारण कवि की जाति के संबंध में अन्तिम निर्णय देना कठिन है । यदि वास्तव में व्यास तथा इसी वर्तमान काल में भी, राजस्थानी ब्राह्मणों के अंतर्गत मिलते हैं तो उसे भाट बनाने का कोई कारण ज्ञात नहीं होता ।"§3§

---

§1§ हिन्दी साहित्य का इतिहास §सं. 2017§ पृ. 39.
§2§ राजस्थानी, भाग-3, अंक-3, पृ. 21.
§3§ वीर काव्य §सं. 2012 वि. § पृ. 192.

ग्रंथ के रचनाकाल के विषय में भी विद्वानों में मतवैभिन्न है । अगरचन्द नाहटा ने विभिन्न प्रतियों के आधार पर इसका रचनाकाल सं॰ 1073, 1077, 1212, 1273, 1373 तथा 1377 आदि माना है । सत्य जीवन वर्मा, श्यामसुन्दर दास एवं शुक्ल ने इसका रचनाकाल 1212 तथा ओझा जी ने इसका रचनाकाल सं॰ 1272 माना है ।

इस ग्रंथ में भोज परमार की पुत्री राजमती और अजमेर के चौहान राजा वीसलदेव तृतीय के विवाह, वियोग एवं पुनर्मिलन की कथा सरस शैली में प्रस्तुत की गई है । राजमती की बातों से रूष्ट होकर स्वाभिमानी राजा उड़ीसा चला जाता है । बारह वर्ष तक राजमती उसके विरह में दुखी रहती है । वह राजभवन की दीवारों को कोसती हुई, जंगल में रहने की ठान लेती है । सामंती जीवन के प्रति गहरी अरुचि का सजीव चित्र इस काव्य में मिलता है ।

"संदेश रासक" के समान ही "वीसलदेव रासो" की भावभूमि भी निश्छल प्रेम की सरस अभिव्यक्ति से अनुप्राणित है । "मेघदूत" और "संदेश रासक" की संदेश परंपरा भी इसमें मिलती है । राजमती एक पंडित के द्वारा अपने पति के पास संदेश भेजती है । जब वह लौट आता है तब राजमती उससे श्रृंगार करके मिलती है । संयोग एवं वियोग श्रृंगार के मार्मिक चित्र कवि ने प्रस्तुत किए हैं । राजमती में एक कुलीना गृहिणी का स्वाभिमान है जो विरह के चित्रों को कांतिमय बनाता है । संयोग के समय भी यही कान्ति काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि करती है । राजमती की वाणी व्यंगमयी हो उठती है, जिससे उसके पति का हृदय हिल जाता है । पति के हृदय को बेधने वाला राजमती का वह कुलीनता-संस्कार ही उसकी समस्त विरह-वेदना का आधार है, वही उसे इस विवशता तक पहुँचाता है । यथा—

अस्त्रीय जनम काई दीधउ महेस ।
अवर जनम थारई घणा रे नरेस
राणि न सिरजीय धउलीय गाई ।
वणखण्ड काली कोइली ।
हउँ बइसती अंबा नइ चंपा की डाल ।
भखती दाख बीजोरडी
इण दुख झूरइ अवलाजीबाल ।

इस प्रकार इस काव्य के वर्णनों में एक संस्कार-दृष्टि मिलती है । यह संस्कार-दृष्टि नारी गरिमा की स्थापना करती है । कवि ने प्रकृति के रमणीय चित्रों से भी भाव चित्रण को सौन्दर्य दिया है । बारहमासों तथा ऋतुओं के प्राकृतिक चित्र संयोग और वियोग के उद्दीपन का काम करते हैं । विरह की विभिन्न दशाओं के वर्णन में समस्त प्रकृति सहायक हुई है तथा अनुभूतियों को भी उसने सुकुमारता प्रदान की है ।

"वीसलदेव रासो" की शृंगार-परंपरा का आदिकाल में ही अन्त नहीं हो जाता । विद्यापति से होती हुई यही परंपरा भक्तिकाल में प्रेमाख्यान काव्यों तक पहुँची और उसने कृष्ण-भक्तों को भी प्रभावित किया तथा रीतिकाल में जाकर इसका सरस शृंगार-काव्य के रूप में चरम विकास हुआ ।

§ग§ <u>हम्मीर रासो</u> :- इस ग्रंथ का रचयिता शार्ङ्गधर कवि बताया जाता है । इसकी अभी तक कोई प्रति उपलब्ध नहीं है, अतः इसके विषय में अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को "प्राकृत पैंगलम्" नामक कृति में कतिपय अंश इस कृति के मिले हैं, उन्हीं के आधार पर इन्होंने इस ग्रंथ का अस्तित्व स्वीकारा है ।

डॉ० उदय नारायण तिवारी ने जोधराज कृत "हम्मीर रासो" का परिचय दिया है । इस ग्रंथ में कुल 979 छन्द हैं । इसमें रणथम्भोर के राजा हम्मीर तथा अलाउद्दीन के मध्य होनेवाले ऐतिहासिक युद्ध का वर्णन बड़े ही ओजपूर्ण ढंग से किया गया है । इसमें हम्मीर के पूर्वजों की महत्ता भी दर्शायी गई है । वीर रसानुकूल भाषा का प्रयोग किया गया है । साहित्यिक भाषा ब्रज तथा वीररस के वर्णनों में डिंगल के द्वित्व वर्णों को अपनाया गया है । इस ग्रंथ में कवि ने हम्मीर एवं रानी आशादेवी के ओजपूर्ण कथनों को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है । उदाहरणार्थ प्रस्तुत है :-

हम्मीर का कथन—

पच्छिम सूरज उग्गवै, उलटि गंगवह नीर ।
कहौ हत पतिसाह सौं, हट न तजै हम्मीर ।§1§

---

§1§ हिन्दी साहित्य का इतिहास §सं. डॉ० नगेन्द्र - 1973§ पृ. 57.

रानी आशादेवी का कथन—

राखि सरनि शैसन तजो, तजो शीश गढ़ थेगि ।
हठ न तजो पतसाह सों, गहि कर तजो न तेगि ।।1।।

।।घ।। <u>पृथ्वीराज रासो</u> :- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि—"चन्द हिन्दी के प्रथम कवि के रूप में माने जाते हैं और उनका पृथ्वीराज रासो हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है ।"।2। उन्होंने चन्दबरदाई को दिल्ली नरेश पृथ्वीराज चौहान का सामंत और राजकवि माना है । महामहोपाध्याय पं0 हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार चन्दबरदाई का जन्म लाहौर में हुआ था । इनके जन्मकाल के संदर्भ में कई धारणाएँ हैं । शुक्ल जी ने इनका जन्म-वर्ष 1168 ई0 माना है तथा लिखा है कि—"रासो के अनुसार ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे । इनके पूर्वजों की भूमि पंजाब थी जहाँ लाहौर में इनका जन्म हुआ था । इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनों ने एक ही दिन यह नश्वर शरीर छोड़ा था ।"।3।

शुक्ल जी ने हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त चंद का एक वंश-वृक्ष भी प्रस्तुत किया है । यह वंश-वृक्ष शास्त्री जी को नानूराम भाट से प्राप्त हुआ था, जो स्वयं को चन्द का वंशज मानता था । उसके कथनानुसार चन्द के चार पुत्र थे, जिनमें से चतुर्थ पुत्र जल्ह था । जिस समय पृथ्वीराज को मुहम्मद गोरी बन्दी बनाकर अपने देश ले जा रहा था, उस समय चन्द भी महाराज के साथ गया था तथा अपने पुत्र जल्ह को "पृथ्वीराज रासो" सौंप गया था । इस संदर्भ में यह उक्ति प्रसिद्ध है :-

"पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चल गज्जन नृप काज ।" कहा जाता है कि जल्ह ने चन्द के अधूरे महाकाव्य को पूर्ण किया था ।

रघुनाथ चरित हनुमंत कृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि ।
प्रथिराज सुजस कवि चन्द कृत, चन्द नन्द उद्धरिय जिमि ।

यह प्रसिद्ध है कि कवि चन्द ने अपने स्वामी के हितार्थ अपना बलिदान किया था । वह बहुत प्रतिभाशाली, दूरदर्शी, वीर एवं स्वामिभक्त कवि था । पृथ्वीराज सदा उसे अपने सखा के समान साथ रखते थे एवं उसकी हर बात मानते थे ।

- -

।1। हिन्दी साहित्य का इतिहास ।सं. डॉ0 नगेन्द्र-1973। पृ. 57.
।2। हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल, पृ. 38.
।3। -वही-

पृथ्वीराज रासो के चार संस्करण प्रसिद्ध है । सबसे बड़ा संस्करण वह है, जिसका प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हुआ है तथा जिसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उदयपुर के संग्रहालय में सुरक्षित हैं । सभा ने 1585 ई0 में लिखित प्रति के आधार पर "रासो" का संपादन कराया था । इस संस्करण में 69 समय (खण्ड) तथा 16306 छन्द हैं । द्वितीय रूप में उपलब्ध "पृथ्वीराज रासो" 7000 छन्दों का काव्य माना जाता है । इसका प्रकाशन नहीं हुआ, किन्तु अबोहर और बीकानेर में इसकी प्रतियाँ सुरक्षित हैं । यह प्रतियाँ सत्रहवीं शताब्दी ईस्वी में लिखी गई मानी जाती हैं । तीसरा लघु संस्करण 3500 छंदों का है, जिसमें केवल 19 समय है । इस संस्करण की हस्तलिखित प्रतियाँ भी बीकानेर में सुरक्षित हैं । चौथा संस्करण सबसे छोटा है, जिसमें 1300 छंद हैं । इसी को डॉ0 दशरथ शर्मा आदि कुछ विद्वान मूल रासो मानते हैं ।

इसके अतिरिक्त विजयपाल रासो, जयचंद रासो आदि भी रासो परंपरा के अन्तर्गत रचित काव्य माने जाते हैं परन्तु यह पूर्णतः अप्राप्त हैं ।

रासो साहित्य की प्रामाणिकता :-

रासो साहित्य वस्तुतः कल्पना प्रधान काव्य है । वीरतापूर्ण घटनाओं का काल्पनिक एवं श्रृंगारपूर्ण चित्रण इसकी विशेषता है । विभिन्न रासो काव्यों की प्रामाणिकता में संदिग्धता रही है । हम्मीर रासो, खुमाण रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो एवं परमाल रासो आदि । इनमें हम्मीर रासो अब तक अप्राप्त है । केवल "प्राकृत पैंगलम्" में प्राप्त आठ छन्दों के आधार पर ही उसकी कल्पना की जाती रही है । शेष रासो ग्रंथों के आकारों में धीरे-धीरे विकास होता रहा । उनका मूल रूप क्या था ? यह कहना अत्यन्त कठिन है । हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध न होने के कारण इतिहासकारों और विद्वानों में हमेशा भ्रांतियाँ रही है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों ने इनका मूल रूप समझ लिया है । "बीसलदेव रासो" तथा "परमाल रासो" गेय काव्य रहे हैं । इसलिए इनका आकार ही नहीं, क्षेत्रीयता के कारण भाषा भी बदलती

- -

आल्हखण्ड की खोज : कुछ समस्याएँ, डॉ0 नर्मदाप्रसाद गुप्त, पृ. 8.

रही है । शब्दों के उच्चारण व गीत शैली में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है ।

"पृथ्वीराज रासो" के जो संस्करण हस्तलिखित रूप में मिलते हैं, उनके आकार में भी पर्याप्त असमानता है । अतः इसके मूलरूप का आज भी पता नहीं चल पाया । परन्तु इसे हम आधार रहित कदापि नहीं कह सकते । "खुमाण रासो" के आकार में भी समय-समय पर वृद्धि होती रही । उसमें कुछ मूलभूत प्रसंग जुड़ते चले गए । इसे हम युग-चेतना का प्रभाव भी कह सकते हैं । इन रासो ग्रंथों के मूलरूप प्राप्त न होने के कारण संदिग्धता तो है ही, परन्तु उन्हें सर्वथा अप्रामाणिक मानना असंगत होगा । साहित्य किसी युग विशेष में उत्पन्न परिस्थितियों की देन होता है । आदिकालीन आक्रामक वातावरण के लिए हमारा इतिहास साक्षी है । अन्य भारतीय राजाओं के पराक्रम की गाथाएँ आज भी हमारे इतिहास के पृष्ठों को अंकित करती हैं । सन् 1857 की वीरांगना झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का नाम कौन नहीं जानता ? अगर यह प्रामाणिक है तो रासो ग्रंथों की वीरतापूर्ण घटनाओं और वर्णनों को अप्रामाणिक मानना न्यायोचित नहीं है ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास-निर्माताओं के अनुसार – वस्तुतः यही कहा जाता है कि रासो ग्रंथों का वर्तमान रूप अप्रामाणिक है । परन्तु वे भी इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते हैं कि ये सर्वथा अप्रामाणिक हैं । यह विवाद का प्रश्न बना हुआ है । वे यह स्वीकार करते हैं कि निश्चय ही इनकी रचना आदिकाल में हुई । धीरे-धीरे इसके रूपाकार में परिवर्तन एवं परिवर्धन होता गया, किन्तु इस परिवर्तन के कारण आदिकाल में इनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

"रासो ग्रंथ" आदिकाल की सीमा से त्याज्य नहीं हैं । उनका रूपाकार परिवर्तित होना, उनकी अप्रामाणिकता का प्रतीक नहीं है । यदि आकार वृद्धि एवं परिवर्धन को प्रामाणिकता के संदर्भ में निर्णायक बिन्दु मान लिया जाय, तब तो सूर, कबीर, तुलसी एवं मीरा आदि की रचनाएँ भी विशुद्ध प्रामाणिक सिद्ध नहीं हो सकती ।

आदिकालीन साहित्य के विषय में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि—"कई रचनाएँ, जो मूलतः जैन धर्म भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं,

निस्सन्देह उत्तम काव्य हैं और......... हम्मीर रासो की भाँति ही साहित्यिक इतिहास के लिए स्वीकार्य हो सकती हैं। यही बात बौद्ध सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है।" ॥1॥

अन्त में यह कहा जा सकता है कि सभी रासो ग्रंथ सर्वथा अप्रामाणिक नहीं हैं। इनका रचनाकाल निश्चित रूप से आदिकाल है। इनके आकार एवं रूपपरिवर्तन के कारण आदिकाल में इनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह ओजस्विता एवं चेतना के स्त्रोत हैं।

॥1॥ हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ० नगेन्द्र, पृ.सं. 77-78.

-:xxx:-